कविता क्या संभव है

'प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाय, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।'1

प्रफुल्ल कोलख्यान

हिंदी कविता की परंपरा बहुत समृद्ध रही है। इस समृद्ध परंपरा में रखकर देखें तो समकालीन हिंदी कविता की स्थिति बहुत उत्साहजनक नहीं है। हालाँकि, उत्साह को बनाये रखने के लिए कविता पुस्तकों की समीक्षा और कविता केंद्रित आलोचना सदैव प्रयत्नशील दिखती हैं। इस प्रयत्नशीलता के बावजूद कविता का अंत:करण उदास और अंतर्लोक ऊसर बना हुआ है। कविता की प्रायोजित प्रशंसा के जिस शोर को स्वर मानकर कविगण संतुष्ट और आत्मसमृद्ध हो रहे हैं वह दूसरे के लिए स्वर नहीं बन पाता है; शोर ही बना रह जाता है। समकालीन समय में दुर्घटनाग्रस्त संवेदना की भयानक परिणति स्वर का शोर में बदलते जाना है। हमारी काव्य परंपरा को समृद्ध बनानेवाले काव्य-स्वर भी शोर में बदले जा रहे हैं। कबीर, तुलसी ही नहीं जायसी के स्वर भी शोर के हवाले हैं। जिस बाजार में कबीर लुकाठी लेकर खड़े थे उस बाजार में आज संत और सूफी के वारिस इत-उत धावत नजर आ रहे हैं! अशांत काव्य-चित्त का यह इत-उत धावन जितनी तेजी से बढ़ रहा है कविता का आशय और आवेदन उतनी ही तेजी से अश्रव्य होता जा रहा है। सत्य को प्रिय बनाने के कौशल का अभाव प्रिय को ही सत्य मानने का आत्मछल रचता है। `सत्यम ब्रुयात, प्रियम ब्रुयात' की सरहद पर खड़े होकर कविता पर निश्च्छल चर्चा दुष्कर है। छलिया समय में निश्च्छलता को छल साबित करना स्वभाव तः आसान होता है।

अपने इतिहास के किसी दौर में हिंदी कविता इतनी अधिक अग्राह्य और इतनी अधिक अनालोच्य कभी नहीं रही है। इसके अनालोच्य होते जाने का एक बड़ा कारण इसकी अनायासता में है। जीवन में कुछ भी अनायास नहीं होता है। कविता भाषा की अनायास प्रक्रिया नहीं है। इसके बावजूद, यह मानना ही होगा कि साहित्य में अत्यधिक सायासता भी कोई अच्छी बात नहीं है। सायास-अनायास के बीच का यही वह द्वंद्व-बिंदु है जहाँ ठिठककर ही नहीं थोड़ा ठहरकर भी सोचने की जरूरत है। साहित्य भाषा और समाज की आयास और अनायास के मिश्रण की जादुई प्रक्रिया से संभव होता है। साहित्य की सबसे ज्यादा संवेदनशील विधा होने के कारण कविता में आयास और अनायास के मिश्रण की यह जादुई प्रक्रिया कुछ अधिक ही सूक्ष्म होती है। हिंदी कविता में सायास-अनायास के द्वंद्व-बिंदु का निभाव देखना दिलचस्प है! हिंदी में इस समय दोनों ही तरह की कविताएँ सामने आ रही हैं -- एक तरह की कविताएँ वे हैं जो अनायास संभव हो जाती हैं और दूसरी तरह की कविताएँ वे हैं जिनमें भरपूर आयास है। आयास और अनायास के मिश्रण की जादुई प्रक्रिया से संभव हुई कविताएँ लगभग असंभव होती जा रही हैं। आयास और अनायास के मिश्रण के जादू से काव्य-शक्ति उत्पन्न होती है। इस काव्य-शक्ति से संपन्न कविता के एक छोर पर विद्वजन सिर धुनते रहते हैं और दूसरे छोर पर सामान्य-जन की

प्रेरणा और संवेदना के प्राणतंतु उससे सहज ही जुड़ते रहते हैं। कविता का आत्मविस्तार सामान्य और विशिष्ट तक बड़ी सहजता से होता रहता है। यह सत्य है कि इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में समय लगता है, यह चटपट नहीं होता है। यह भी सत्य है कि चटपटिया समय में ऐतिहासिक प्रक्रिया को संपन्न होते देखने का धैर्य नहीं होता है। कहना न होगा कि समकालीन हिंदी कविता के प्रति हमारी बनती हुई धारणा का संबंध इस अधैर्य से भी हो सकता है। लेकिन पूत के पाँव पालने में! सामान्य पढ़े-लिखे लोग या समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, फिल्मकार, पत्रकार, बैरिस्टर, डॉक्टर, इंजीनियर, नौकरशाह आदि की तो बात ही क्या साहित्य की अन्य विधाओं से जुड़े गंभीर लोगों के लिए अनिवार्य पाठ्य या उनके सहजबोध का हिस्सा न बन पाना समकालीन हिंदी कविता का बड़ा संकट है। समकालीन हिंदी कविता किसीके अनिवार्य पाठ्य या सहजबोध का हिस्सा भले न हो, साहित्य का बहुत बड़ा भू-भाग तो वह घेरती ही है! विरोधाभासी (जी हाँ सिर्फ आभासी) स्थिति यह है कि कविता पढ़ी तो सबसे कम जा रही है, लेकिन लिखी सबसे ज्यादा जा रही है!

मनुष्य की मूल-वृत्तियाँ वास्तविक रूप से व्याघाती नहीं होती हैं। सामान्य तः मौलिक कलाएँ भी एक दूसरे की क्षति नहीं करती हैं। असमान्य समय में यह स्वाभाविकता खोने लगती है; इस स्वाभाविकता के खोते जाने से समय असामान्य हो जाता है। अस्वाभाविक होते समय की सूचना हिंदी कविता में किस तरह दर्ज है यह देखा जाना चाहिए। इस अस्वाभाविक समय की विडंबना है कि बाजार के शोर में कवि निश्शब्द है, `बाजारों में घूमता हूँ निश्शब्द / डिब्बों में बंद हो रहा है पूरा देश / पूरा जीवन बिक्री के लिए / एक रंगीन किताब है जो मेरी कविता के / विरोध में आयी है / जिसमें छपे सुंदर चेहरों को कोई कष्ट नहीं / जगह-जगह नृत्य की मुद्राएँ हैं विचार के बदले / जनाब एक पूरी फिल्म है लंबी / आप खरीद लें और भरपूर आनंद उठायें // शेष जो कुछ है अभिनय है / चारों ओर आवाजें आ रही हैं / मेकअप बदलने का भी समय नहीं है / हत्यारा एक मासूम के कपड़े पहनकर चला आया है / वह जिसे अपने पर गर्व था / एक खुशामदी की आवाज में गिरगिरा रहा है / ट्रेजडी है संक्षिप्त लंबा प्रहसन / हरेक चाहता है किस तरह झपट लूँ / सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार।'2 इन परिस्थितियों में सभ्यता के विकासक्रम में `चित्त पर चढ़े आवरण' से मुक्त होकर `प्रच्छन्नता का उद्घाटन' क्या आसान होता है! खासकर तब, जब `मैंने दरवाजे बंद किये / और कविता लिखने बैठा / बाहर हवा चल रही थी / हल्की रोशनी थी / बारिश में एक साइकिल खड़ी थी / एक बच्चा घर लौट रहा था // मैंने कविता लिखी / जिसमें हवा नहीं थी / साइकिल नहीं थी बच्चा नहीं था / दरवाजे नहीं थे।'3 इस तरह, जो बाहर था वह कविता की अंदरुनी दुनिया का हिस्सा नहीं था, स्वभावतः कविता की अंदरुनी दुनिया के लिए बाहर की दुनिया में जगह कम होती गई। नतीजा यह कि `अब हम लगभग निश्शब्द हैं। हम नहीं जानते कि क्या करें। हमारे पास कोई रास्ता नहीं बचा कागजों को फाड़ते रहने के सिवा।'4 रघुवीर सहाय की काव्य थकान में निहित लंबी छुट्टी की माँग में हिंदी कविता की थकान को भी पढ़ा जा सकता है, `मुझे एक लंबी छुट्टी दो / मैं अपने कागजों को सँभालूँगा / कितने तरह के ऊबड़-खाबड़ कागज हैं ये / इनके बीच से पिरोकर अपने दर्द को निकालूँगा'।5 समाज से साहित्य के प्राणत्व का रिश्ता बहुत सघन होता है। समाज से साहित्य के रिश्ते में आये किसी भी प्रकार के शैथिल्य या थकान का असर कविता पर सीधे पड़ता है। सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति और आदर्श के बीच संतुलन में गड़बड़ी साहित्य और समाज के रिश्ते को क्षतिग्रस्त करता है। कहना न होगा कि विकास के हंगामे में धीरे-धीरे आदर्श बिलाता गया और `एकांगी और अ-सामंजस्यपूर्ण उन्नति' ही बिना किसी असमंजस के `आदर्श' बन गया ! हालात इतने खराब कि `एक आदर्श के लिए जीना / सबसे बुरी बात होगी / वह बदल चुका होगा समय के साथ / प्रेम जीवन को बचायेगा या नष्ट करेगा / मनुष्यता के अर्थ से भी कैसे बचेगा मनुष्य / महानताएँ भी अंततः बढ़ायेंगी क्षुद्रताओं को'6। आदर्श-विच्युति की मन:स्थिति में समाज से आत्म-निष्कासन के बाद बचे अपने एकांत में स्वाभाविक ही है कि `वह नहीं चाहता था ईमानदार मुसीबतज़दा का सच होना / वह नहीं चाहता था सच्चे लोगों का सच होना / वह नहीं चाहता था सहज सरल का गरल होना / वह समझ नहीं पा रहा था / विफल होती हड़तालों / बिखरते आंदोलनों के चलते / सत्ता में अपने को मनवाने की तरकीब क्या है // उसने एकांत में सोचा / नामीबिया, निकरागुआ / फिलिस्तीनी औरतों

का सच / होने में कुछ नहीं धरा है // उसने अंत में सोचा / खेत का सच / पेट का सच / किसान-मजदूर का सच होने के बजाय / उसे सत्ता का सच हो जाना चाहिए / ताकि सत्ता और सच की जुगलबंदी देश के काम आ सके !'7 सत्ता और सच की जुगलबंदी में साहित्य जब सच का नत्थीकरण सत्ता से कबूल करने लगता है तब शब्द कवि के ब्रह्मांड की गुप्त आकाश गंगा में आने से कतराने लगते हैं। अपनी अर्थ-ध्वनियों को खो चुकने के बाद विचार के खो जाने, नृत्य की मुद्रा या मुद्रा के नृत्य में और कवि के अदृश्य परछाई में बदलते जाने के अलावे शब्द के सामने विकल्प ही क्या बचता है? यह बचा हुआ विकल्प भी क्या विकल्प है? विराट के चरम संकोचन के विस्फोट से शून्य की विराटता उत्पन्न होती है, इस विराटता में किसी के लिए कोई जगह नहीं होती है। दो पंक्तियों के बीच का सूनापन अर्थहीनता नहीं, हीनार्थता के चरम पर प्रकट होकर विकट हो जाता है! विराट की इस विकटता और वक्रता में कवि इस आत्मबोध से जूझता रहता है कि `कविता की दो पंक्तियों के बीच मैं वह जगह हूँ / जो सूनी सूनी सी दिखती है हमेशा // यहीं कवि की अदृश्य परछाई घूमती रहती है अक्सर / मैं कवि के ब्रह्मांड की एक गुप्त आकाश गंगा हूँ / शब्द यहाँ आने से अक्सर आँख चुराते हैं।'8 जब शब्द के अपने कवि से या कवि के अपने शब्द से आँख चुराने की सभ्यता में समाज प्रवेश करता है तो व्यक्ति अपने खंडित मन और विपथित मनोरथों के अरण्य में अकेला पड़ जाता है। वह व्यक्ति कोई भी हो सकता है, कवि भी! अकेला और किंकर्त्तव्यविमूढ़ कि `भीतर जो अकेला है / उस मन का क्या करूँ / सन्नाटे-सा / बरजता दिन-रात / अँधड़ उठाता / जो बन है, उस बन का क्या करूँ '9।

श्रीप्रकाश शुक्ल का काव्य संकलन `बोली बात' को पढ़ते हुए और पढ़ चुकने के बाद समकालीन हिंदी कविता के प्रश्नों की अदृश्य परछाई घूमने लगी और कवि एक नदी की प्यास के साथ कविता की संभावनाओं को टटोलने का सांस्कृतिक साहस करता दिखा। `एक तमतमाती दोपहर को / कूलर की हवा में लगभग लहराते हुए / मैंने अपने आप से पूछा / कविता क्या संभव है ?'10 कैसा यह समय और इस समय से हमारा सरोकार! यह समय? `यह मित्रताओं के टूटने का समय है // हमारी थकान हमारी ऊबन हमारी घुटन के तमाम कुढ़ते क्षणों में / हमारी निरीहता के ठीक बीचोबीच / जब उपस्थित होंगे कुछ सपने / (झिलमिलाते ही सही) / तब हमारी मित्रता के टूटने के दिन होंगे / ऐसी स्थिति में / उड़ान में छूट गए पक्षियों के कुछ पंखों की तरह / कब तक बचा पाएँगे हम हमारी मित्रता।'11 मित्रता के मूल में स्वीकृति रहती है, इसलिए मित्रताओं के टूटने का समय होने का मतलब ही है कि `यह स्वीकृतियों के अस्वीकार का समय है / किसी यात्रा में चले जा रहे यात्री के टिकट की भाँति / लुड़ियाने पुड़ियाने का समय है / वायदों-विश्वासों-अभिलाषाओं की कठोर गर्जनाओं के बीच / ठंडक में कुकुहाते व्यक्ति की तरह / यह स्मृतियों के चिंगुराने का समय है // यह बेबस पड़ गए वायदों का समय है / बहाव में डूब गए आदमी में संगीत खोजने का समय है'।12 अर्थ-प्रधान युग में भाषा अपना अर्थ खोने लगे तो इसका अर्थ समझना ही होगा। `जो भाषा कविता की बुनियाद है वही अगर समाज के निहित स्वार्थों द्वारा शोषण और झूठ का तकतवर साधन बन जाती है तो कविता के लिए उसमें विश्वसनीय जगह बनाना सबसे मुश्किल हो जाता है। मूल्यों को जाँचने-परखने का सबसे संवेदनशील माध्यम, यानी भाषा, अगर व्यवहार में खुद ही खोटी और कुंद हो जाये तो वैचारिक और भावनात्मक स्तर पर उसकी कोई साख नहीं बचती। कविता की एक लड़ाई स्वयं भाषा के गिरते हुए मूल्य को, उसकी स्वतंत्रता, प्रामाणिकता और ईमानदारी को बचाये रखने की कोशिश है।'13 विडंबना यह कि शब्द, `यह शब्द गिनने का नहीं / अर्थ भरने का समय था / और मैं शब्दों को बार-बार उछाल रहा था / जैसे एक किसान उछालता है हँसिया / घने होते सूखे के बीच'।14 कवि शब्द कहाँ से लाये! आज के भूमंडलीकृत होते समय में जब राष्ट्र ढह-ढनमना रहे हैं, राष्ट्र के प्रतीक कैसे बचे रह सकते हैं! मोर आज भी राष्ट्रीय पक्षी माना जा रहा है मगर उसमें राष्ट्रीयता का मिलना क्या आसान है; `मोर एक राष्ट्रीय पक्षी है / यह करीब-करीब कौतूहल से बात उठी / फिर बात इस बात पर आ गई / इसमें राष्ट्रीयता कहाँ पर है'15।

शहर आज सभ्यता के केंद्र में हैं। शहर में समय का न होना सभ्यता में समय के न होने को सूचित करता है, `यह एक अजीब शहर है जिसका कोई समय नहीं है / जिसे कहीं भी पहुँचने की कोई जल्दबाजी नहीं है / जहाँ रात रात नहीं होती / दिन दिन नहीं होता // यहाँ जो भी होता है / या तो ठेके पर होता है / या फिर ठेले पर।'16 कविता संभव है, यदि खिड़की खुली हो, खुली हुई खिड़की से गरम हवा का झोंका इतनी तेजी से आये कि माथा मेज पर रखे बुद्ध की मूर्त्ति से टकराये और इस टक्कर से उत्पन्न झनझनाहट को महसूस किया जा सके! कविता क्या संभव है का सकारात्मक उत्तर इतने सारे अगर-मगर से जूझने के बाद ही मिल सकता है। `यह सवाल मेरे मन में ही आ ही रहे थे / कि तभी एक गरम हवा का झोंका खिड़की से आया / और मेरा माथा / मेज पर रखे गौतम बुद्ध की मूर्त्ति से टकरा गया // इस समय मुझे लगा कि कविता हर जगह संभव है / बशर्त्ते हम इसकी झनझनाहट को ठीक से महसूस कर सकें।'17 क्या कविता के संभव होने की शर्त्तों को पूरा करना आसान है? इन शर्त्तों को पूरा करने की तैयारी में लगने के लिए कविता को लंबी चुप्पी से गुजरना होगा! तभी दिख पायेगा,`बदलने के है जो दृश्य / वह ठहर जाए लालटेन की साँस में / जब तक मेरे होठों पर काँपता रहे स्पर्श / तुम उठाए रखना पलकों पर / दूधिया आसमान / इतना चुप रहना कि मैं सुन सकूँ / पत्तियों के सिसकने की आवाज / इतना चुप रहना कि मैं जान सकूँ / एक-एक कर झरने में पंखुरी के राज़ / इतना चुप रहना कि मैं गुन सकूँ / करवट लेती पृथ्वी में सपने की टूट / इतना चुप रहना कि मैं सुन सकूँ / अपने भीतर / जीवन देनेवाली बूँद की आवाज़ / इतना चुप, कि मैं सुन सकूँ अपने अंत का आरंभ'18। अपने अंत के आरंभ से जूझते कवि के ब्रह्मांड की गुप्त आकाश गंगा की शब्द-हीनता को उस हँसी की बड़ी तीव्र प्रतीक्षा है -- हँसी और हँसी की स्मृति की प्रतीक्षा। क्योंकि `तुम्हारी हँसी की स्मृति से / जगमगाते हैं मेरी रातों के तारे // तुम्हारी हँसी को सुनने से / करवट लेता है जैसे अलसाये आकाश में तारों का हुजूम / दूर कहीं चटखते हैं देह के निर्झर में सोये हुए राग'19। देह के निर्झर में सोये हुए राग में ही देह से परे जाकर मन-प्राण में घर बनाने की संभावनाओं के अनंत का संसार बसता है। `मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा' तभी हँसी को हासिल किया जा सकेगा।

कवियों की नाराजगी का खतरा मोल लेते हुए भी कहना जरूरी है कि समकालीन हिंदी कविता में आत्म-प्रेरणा और आत्म-प्रतिज्ञा का अपठ्य हो जाना बहुत ही दुखद है, खासकर तब जब हम यह देखते हैं कि कुछ समय पहले तक भी कविता में कुछ प्रेरणाएँ और प्रतिज्ञाएँ बची हुई थीं। भाव, विचार, संवेग सभी तो हैं फिर वह कौन-सी बात है कि कविता में प्राणत्व का अभाव बना ही रह जाता है। प्रयोजनहीनता! काव्य प्रयोजन का खो जाना! काव्येतर प्रयोजन से उसका विस्थापित हो जाना! कविता में प्राणत्व के अभाव का बड़ा कारण क्या है! बहुत बोलने और कुछ न कहने की भाषिक प्रविधि के पार जाकर ही कोई जवाब मिल सकता है, शायद। सवाल यह कि स्वर के भी शोर में बदल देनेवाले समय में इस भाषिक प्रविधि के पार जाने का जोखिम अकेला कवि कैसे उठाये! शोर की सामूहिकता और स्वर की निरवता में यह अकेलापन है कि टूटता ही नहीं -- कविता क्या संभव है!

संदर्भ:

1 आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है ?
2 मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं: अभिनय
3 मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं: बाहर
4 मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं:कागज की कविता
5 रघुवीर सहाय: आशा: एक समय था, 1985
6 अनीता वर्मा: एक जन्म में सब: राजकमल प्रकाशन, 2003

7 गोबिंद प्रसाद: सत्ता का सच: कोई ऐसा शब्द दो: वाणी प्रकाशन 1996
8 राजेश जोशी: दो पंक्तियों के बीच: राजकमल प्रकाशन-2000
9 गोबिंद प्रसाद: क्या करूँ: मैं नहीं था लिखते समयः भारतीय ज्ञानपीठ, 2007
10 श्रीप्रकाश शुक्लः एक तमतमाती दोपहर: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
11 श्रीप्रकाश शुक्ल: मित्रता: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
12 श्रीप्रकाश शुक्ल: समय: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
13 कुँवर नारयाण : सामाजिक यथार्थ और कविता का आत्मसंघर्ष -कुछ नोट्स
14 श्रीप्रकाश शुक्लः चिन्ता: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
15 श्रीप्रकाश शुक्लः चिन्ता: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
16 श्रीप्रकाश शुक्लः अथ काशी प्रवेश: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
17 श्रीप्रकाश शुक्लः एक तमतमाती दोपहर: बोली बात: राजकमल प्रकाशन, 2007
18 गोबिंद प्रसाद: इतना चुप : मैं नहीं था लिखते समयः भारतीय ज्ञानपीठ, 2007
19 गोबिंद प्रसाद: इतना चुप : मैं नहीं था लिखते समयः भारतीय ज्ञानपीठ